मूर के 'शुभ' संबंधी निर्प्रकृतिवादी विचार

डॉ महीप कुमार भारती
दर्शन शास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज
ईमेलः maheepsingh20@gmail.com

सारांश

जार्ज एडवर्ड मूर विश्लेषणात्मक दर्शन के प्रबल समर्थकों में से एक हैं। मूर की प्रथम कृति *प्रिंसिपिया ऐथिका* जो कि 1903में प्रकाशित हुई, उसमें इसका व्यवस्थित रूप में इनके अनुभववादी विचार देखने को मिलते हैं। उन्होंने अपने जीवन काल में बहुत सी कृतियों का उपहार दिया जिनमें प्रिंसीपिया ऐथिका नीतिशास्त्र की प्रथम कृति थी। मूर ने सर्वप्रथम नैतिक शब्दों 'शुभ', 'उचित', 'अनुचित', 'कर्तव्य' इत्यादि के अर्थ–विश्लेषण की चर्चा कर एक नवीन दार्शनिक पद्धति का व्यवस्थित प्रयोग किया।मूर से पहले दार्शनिक यह प्रश्न करते थे कि हमारे कौन से कर्म शुभ हैं? और हमें किन नियमों को नहीं अपनाना चाहिए जो हमारे लिए अशुभ हैं? ऐसे प्रश्न मानकीय नीतिशास्त्र के अंतर्गत आते हैं। यहाँ इस शोध पत्र में मूर के निर्प्रकृतिवादी शुभ संबंधी विचारों पर चर्चा की गयी है।

मूल बिन्दु

प्रकृतिवाद, वस्तुनिष्ठतावाद, सार्थक प्रश्न संबंधित तर्क।

Reference to this paper should be made as follows:

Received: 02.09.2021
Approved: 15.09.2021

डॉ० महीप कुमार भारती

मूर के 'शुभ' संबंधी निर्प्रकृतिवादी विचार

RJPP 2021,
Vol. XIX, No. II,

pp.340-348
Article No. 45

Online available at *:*
https://anubooks.com/rjpp-2021-vol-xix-no-1

शुभ की परिभाषा

मूर कहते हैं कि शुभ क्या है? इस प्रश्न के जरिए हम 'शुभ' शब्द के अर्थ का या इसका प्रयोग नहीं जानते बल्कि यह जानना चाहते हैं कि शुभ किस गुण या वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है क्योंकि यह जानने का अर्थ है शुभ की परिभाषा जानना। मूर शुभ को परिभाषित करने से पहले यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि परिभाषा का सबसे अच्छा तरीका क्या है। वह तीन प्रकार की परिभाषाओं की बात करते हैं प्रथम वह जो उदाहरणों के द्वारा दी जाती है, जैसे, 'संतरा, नींबू की तरह होती है'। दूसरा पर्यायवाची शब्दों द्वारा दी गई परिभाषा है जैसे, 'नभ आसमान है'। तीसरा विवरणात्मक परिभाषा या विश्लेषणात्मक परिभाषा जैसे, 'गणतन्त्र, लोक–शासन है'।

मूर की दृष्टि में परिभाषा करने का सबसे सटीक तरीका तीसरा ही है क्योंकि पहली और दूसरी परिभाषाएं, परिभाषा न होकर क्रमशः सादृश्यता और पुनरुक्ति या पर्याय हैं। इनमें विषय का कोई ज्ञान नहीं होता। अच्छी परिभाषा वह होती है जो परिभाषित शब्द के स्वभाव को स्पष्ट करता है । यह तभी सम्भव है जब परिभाषित शब्द जटिल हो और उसका विवरण उन सहज प्रत्ययों में किया जाए जिनसे उनकी समग्रता का निर्माण हुआ है। अतः जब हम शुभ की परिभाषा करने के उदाहरण देते हैं तो कितने ही उदाहरण क्यों न दें ये उदाहरण केवल शुभ वस्तुओं के बारे में संकेत दे सकते हैं, शुभ के अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सकते। इसी तरह जब शुभ की परिभाषा के लिए पुनरुक्ति की प्रक्रिया अपनाते हैं तो भी वह शुभ के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट नहीं करता है। इसलिए मूर के विचार में एक जटिल प्रत्यय को सरल प्रत्ययों में वर्णित करना ही उसे परिभाषित करना है और यह कार्य विश्लेषण द्वारा ही संभव है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने इसे वास्तविक परिभाषा (Real Definition) कहा है। ध्यातव्य हो कि मूर के कहने का तात्पर्य यह नहीं कि शुभ की परिभाषा विश्लेषण द्वारा दी जा सकती है। मूर यह कहना चाहते हैं कि विश्लेषण की पद्धति द्वारा जटिल प्रत्ययों की परिभाषा सरल प्रत्यय में दी जा सकती है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं की इस तरह सरल प्रत्यय की परिभाषा भी दी जा सकती है। वास्तविकता तो यह है कि सरल प्रत्यय की परिभाषा नहीं की जा सकती क्योंकि, सरलतम होने के कारण और अधिक सरल प्रत्ययों में उसका विश्लेषण नहीं हो सकने के कारण, शुभ अपरिभाष्य है।

अतः शुभ एक ऐसा सरल प्रत्यय है जिसकी परिभाषा नहीं की जा सकती या यह कह सकते हैं इस पद का सरल पदों में विश्लेषण नहीं किया जा सकता। अतः शुभ एक सरल, अविश्लेश्य, अपरिभाष्य, निर्प्राकृतिक, गुणबोधक पद है। अतः शुभ की परिभाषा किसी भी निर्प्राकृतिक, अतींद्रिय या अलौकिक लक्षणों के आधार पर कभी भी नहीं की जा सकती है। शुभ की अपरिभाष्यता को स्पष्ट करते हुए मूर ने लिखा है–

"If I am asked, What is good? my answer is that good is good, and that is the end of the matter. Or if I am asked How is good to be defined? My answer is that it cannot be defined, and that is all I have to say about it. But disappointing as these answers may appear, they are of the very last importance".[1]

इस प्रकार उनका कहना है कि यदि मुझसे पूछा जाए कि शुभ क्या है? तो मेरा उत्तर यह होगा कि 'शुभ शुभ है'। यदि मुझसे प्रश्न किया जाए कि शुभ को कैसे परिभाषित किया जाए? तो मेरा उत्तर होगा कि इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। यह उत्तर असंतोष जनक दिखाई पड़ता है पर यह बहुत महत्वपूर्ण है।

अतः शुभ की परिभाषा के साथ मूर इस बात पर भी जोर देते हैं कि शुभ एक सरल प्रत्यय है इसलिए शुभ संबंधी सभी कथन संश्लेषणत्मक होते हैं कभी भी विश्लेषणात्मक नहीं हो सकते है। 'सुख ही शुभ है' जैसे नैतिक सिद्धांत शुभ के अर्थ या परिभाषा को उस रूप में नहीं दे सकता।

"That proposition about the good is all of them synthetic and never analytic; and that is plainly no trivial matter. And the same thing may be expressed more popularly, by saying that, if I am right, then nobody can foist upon us such an axiom as that Pleasure is the only good or that the good is the desired on the pretence that this is the very meaning of the word."[2]

मूर के शब्दों में शुभ सरल प्रत्यय होने के कारण एक अनन्य पद है। अनन्य होने का अर्थ कि वह अवयव रहित है और अवयव रहित होने के कारण ही वह अविश्लेश्य है। शुभ की अविशलेश्यता के कारण ही वह अपरिभाष्य पद है। मूर की दृष्टि में शुभ दार्शनिक दृष्टि से अपरिभाष्य है जबकि शुभ की शाब्दिक या उपयोगात्मक परिभाषा दी जा सकती है।

मूर वस्तुनिष्ठतावाद (Objectivism) के समर्थक हैं यही कारण है कि उनका शुभ संबंधी मत भी वस्तुवाद के अनुरूप है। वस्तुवाद यह कहता है की वस्तुओं का अस्तित्व मानव चेतना से स्वतंत्र नहीं होता है किन्तु हम रहें या ना रहें कुछ वस्तुओं का अस्तित्व सदैव विद्यमान रहेगा। मूर के अनुसार शुभत्व एक ऐसा ही गुण है। इसका अस्तित्व हमारी इच्छा या अनिच्छा से, सुख तथा दुख की अनुभूतियों से, संज्ञानात्मक चेतना से अलग और स्वतंत्र है। इसलिए जब शुभ की तुलना वह पीले रंग से करते हैं तो यही दिखाने का प्रयास करते हैं कि यह गुण मानवीय प्रत्यक्ष एवं इच्छा से स्वतंत्र और वस्तुनिष्ठ है। शुभ इस प्रकार मानव चेतना से स्वतंत्र न होते हुए भी उसकी भावनाओं/धारणाओं से परे एक अनन्य गुण है अर्थात वह वस्तुनिष्ठ है। मूर के शुभ संबंधी विचार नीतिशास्त्र में नैतिक वस्तुवाद के नाम से जाना जाता है।

मूर सावधान करते हैं कि शुभ को पीले रंग से तुलना करना उद्देश्य नहीं है। यह एक सीमित सादृश्यता है। पीले रंग की शुभ से तुलना करना अनुचित है क्योंकि शुभ एक नैतिक गुण है जो बाह्य कारकों पर निर्भर ना होकर आंतरिक गुण है। इसलिए जब कोई विषय शुभ होता है तो वह अनिवार्यतः और सभी परिस्थितियों में शुभ ही है। परंतु अन्य संवेदी गुण या पीला रंग समय एवं वस्तु के अनुसार परिवर्तनशील होता है जैसे कोई वस्तु कभी कम पीली होती है तो कभी अधिक। इसलिए शुभ एवं पीले रंग में समानता केवल इस अर्थ में है कि दोनों सरल गुण हैं, एवं अपरिभाष्य है। ध्यातव्य हो कि शुभ वस्तु की भांति पीली वस्तु अवश्य ही जटिल प्रत्यय होने के कारण परिभाष्य है।

मूर के शुभ की अपरिभाष्यता से यह भ्रम हो सकता है कि जिन वस्तुओं को शुभ कहा जाता है वे भी अपरिभाष्य होते हैं। अर्थात शुभ वस्तु की भी परिभाषा नहीं दी जा सकती। मूर यह स्पष्ट कर देते हैं कि मात्र शुभ ही आपरिभाष्य है, शुभ वस्तु नहीं। हम ऐसी सभी वस्तु की परिभाषा दे सकते हैं जिसे हम शुभ कहते हैं और जिस में वह सरल गुण पाया जाता है जो उसे शुभ बनाता है। शुभ एक विशेषण है जो वस्तु की विशेषता बताता है। अतः शुभ और शुभ वस्तु भिन्न हैं क्योंकि शुभ एक सरल गुण हैं जबकि शुभ वस्तु में शुभ के अतिरिक्त और भी गुण पाए जाते हैं। इसलिए शुभ वस्तु एक जटिल प्रत्यय है और उसका भी विभिन्न भागों में विश्लेषण करके उसकी परिभाषा की जा सकती है। शुभ एवं शुभ वस्तु के बीच अंतर नहीं कर पाने के कारण ही कई दार्शनिक शुभ वस्तु की परिभाषा कर देते हैं और मानते हैं कि शुभ की परिभाषा हो गई। जैसे जब सुखवादी कहते हैं कि 'सुख शुभ है'।

विकासवादी कहते हैं 'विकास शुभ है'। इसी तरह कुछ अन्य दार्शनिक आत्मसिद्धि, बुद्धिमत्ता एवं इच्छातृप्ति को शुभ कहते हैं और समझते हैं कि उन्होंने शुभ की परिभाषा कर दी है। मूर की दृष्टि में यह एक बहुत बड़ी भूल है। शुभ और शुभ वस्तु को एक मान लेने की भूल, गुण व वस्तु में तादात्म्य स्थापित करने की भूल है। मूर इसे प्रकृतिवादी भूल का नाम देते हैं। आवश्यक है कि शुभ एवं शुभ वस्तु के भेद को समझा जाए, तभी शुभ किस प्रकार अपरिभाष्य है, यह भी समझा जा सकता है।

अतः मूर ने बताया है कि शुभ ही अपरिभाष्य है, शुभ वस्तु नहीं। मूर के अनुसार यदि शुभ एक विशेषण है तो वस्तु जो शुभ है वह संज्ञा है जिसमें विशेषण शुभ प्रयुक्त होता है। यदि यह पदार्थ है जिसके लिए वह विशेषण प्रयुक्त होता है तो यह उस विशेषण से भिन्न होगा है जो उसके लिए प्रयुक्त होता है। अतः मूर विश्वास करते हैं कि शुभ की परिभाषा संभव है, फिर भी वह कहते हैं कि 'शुभ' स्वयं अपरिभाष्य है।

अनेक वस्तुएं शुभ मानी जाती हैं जैसे, सुख शुभ है बुद्धि शुभ है। किन्तु शुभ वस्तुओं के कई अंग होते हैं जिनका विश्लेषण कर उसकी परिभाषा की जा सकती है। परंतु शुभ सरल गुण होने के कारण अपरिभाष्य है। मूर का कहना है कि कई दार्शनिकों को लगता है कि शुभ अपरिभाष्य नहीं है। वे शुभ की अपरिभाष्यता को स्वीकार नहीं करते। ऐसी अवस्था में उन्हें दो में से कोई एक बात स्वीकार करनी पड़ेगी। पहली यह कि शुभ शब्द किसी मिश्रित समष्टि का बोध कराता है जिसके उचित विश्लेषण के संबंध में मतभेद हो सकता है या दूसरी बात माननी होगी कि शुभ शब्द पूर्णतः निरर्थक है और ऐसा कोई विषय नहीं है जिसे हम नीतिशास्त्र कहते हैं। किन्तु पूर्ण रूप से इन बातों में से किसी एक को भी स्वीकारने में हम अक्षम लगते हैं। वस्तुतः मूर दोनों ही बातों को अस्वीकार करते हैं और उसका विरोध करने के लिए *सार्थक प्रश्न संबंधित तर्क* (Open question argument) देते हैं। मूर का यह तर्क बहुत ही प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण है। इसका व्यापक प्रभाव परवर्ती नैतिक दर्शन पर पड़ा है। इस तर्क के माध्यम से मूर पहली बात का खंडन करते हैं कि जिस मिश्रित समष्टि के आधार पर शुभ की परिभाषा करने का प्रयास किया जाता है उसके बारे में सार्थकता पूर्वक प्रश्न पूछा जा सकता है कि 'क्या वह शुभ है'? अर्थात जिस गुण या वस्तु के आधार पर हम शुभ को शुभ के रूप में परिभाषित करते हैं क्या सर्वप्रथम वह वस्तु स्वयं शुभ है? और यह प्रश्न निश्चय ही सार्थक प्रश्न कहलाएगा। मूर कहते हैं कि सुखवादी जिस प्रकार शुभ की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि 'शुभ सुख है', इसका अर्थ है कि वे यह कहना चाहते हैं कि शुभ और सुख दोनों एक हैं दोनों का भिन्न कोई अर्थ नहीं है। अर्थात शुभ, सुख के अलावा और कुछ नहीं है। इसका यह अर्थ निकलता है कि शुभ की सुखवादियों द्वारा की गई परिभाषा कि 'शुभ सुख है' एक निरर्थक पुनरुक्ति मात्र है, एक सार्थक कथन नहीं है, क्योंकि जब शुभ और सुख एक है या अभिन्न है तो कहा जा सकता है कि 'सुख सुख है', परंतु क्या सुखवादियों का उद्देश्य सुख की परिभाषा ना करके निरर्थक कथन व्यक्त करना या पुनरुक्ति मात्र करना है? निश्चय ही सुखवादी यह स्वीकार नहीं करना चाहेंगे। वे अपने कथन को सार्थक एवं महत्वपूर्ण ही कहेंगे। अतः सुखवादी सुख और शुभ को एक मानकर सुख द्वारा शुभ की परिभाषा कर अपने मत को प्रकृतिवादी दोष से ग्रसित कर देते हैं चूँकि शुभ की तार्किक परिभाषा नहीं की जा सकती है, वह अपरिभाष्य है तो सुख और शुभ को अभिन्न कर सुखवादियों द्वारा की गई शुभ की परिभाषा निरर्थक पुनरुक्ति मात्र है।[3] मूर कहते हैं मेरा यह तर्क सुखवादियों के विरोध में नहीं है बल्कि उन सभी दार्शनिकों के विरुद्ध है जो सुख की परिभाषा किसी अन्य पद या शब्द द्वारा करने

का प्रयास कर बड़ी भूल करते हैं और 'प्रकृतिवादी दोष' के शिकार हो जाते हैं। रुचि, इच्छातृप्ति, आत्मतृप्ति, ईश्वर आदेश आदि द्वारा शुभ जैसे आपरिभाष्य पद की परिभाषा करने का प्रयास कई दार्शनिक करते हैं। मूर इन सभी परिभाषाओं का समर्थन करने वाले दार्शनिकों से यह सार्थकतापूर्वक प्रश्न करते हैं कि क्या ये कथन शुभ हैं? और इसके उत्तर में यदि दार्शनिक इन अवधारणाओं को शुभ कहते हैं तो सुखवादी दार्शनिकों के समान इनकी परिभाषाएं भी पुनरुक्ति एवं निरर्थक ही होंगी। इस सार्थक प्रश्न संबंधी तर्क के आधार पर यदि ये दार्शनिक कहते हैं कि उनके द्वारा दी गई परिभाषा निरर्थक या पुनरुक्ति नहीं है तो फिर उन्हें मानना चाहिए कि शुभ, इन अवधारणाओं से भिन्न पद है। अतः शुभ की सार्थक परिभाषा नहीं दी जा सकती और वह अपरिभाष्य है। मूर ने एक रोचक तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। मूर कहते हैं कि शुभ की परिभाषा देने वाले दो विरोधी बातें एक साथ करने की भूल कर बैठते हैं। एक तरफ तो वे दार्शनिक शुभ को निरर्थक और पुनरुक्ति ना मान कर सार्थक और महत्वपूर्ण मानते हैं तो दूसरी तरफ इन अवधारणाओं को शुभ से अभिन्न भी मानते हैं। मूर कहते हैं उनके दावों को एक ही साथ तर्कसंगत रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि यदि शुभ इन सब प्रत्ययों से भिन्न नहीं है तो इन पर आधारित उनकी परिभाषाओं को भी सार्थक तथा महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। शुभ संबंधी समस्त कथन विश्लेषणात्मक ना होकर संश्लेषणात्मक ही होते हैं। अर्थात जब किसी वस्तु को शुभ कहते हैं उनके विषय में एक नवीन तथ्य का वर्णन किया जाता है, पुनरुक्ति नहीं। इस तरह मूर का शुभ संबंधी विचार है कि यह एक अपरिभाष्य, सरल, अनन्य प्राकृतिक गुण है सार्थक प्रश्न के आधार पर वह कहते हैं कि शुभ का किसी अन्य वस्तु या गुण के साथ तादात्म्य स्थापित कर उसकी परिभाषा देना उचित नहीं है।

परंतु इतने महत्वपूर्ण विवेचन से यह अर्थ निकालना कि मूर का यह तर्क नवीन और मौलिक है, अनुचित होगा। मूर पर अन्य दार्शनिकों का प्रभाव स्पष्ट है। हचिसन, शैफ्ट्सबरी, कडबर्थ, प्राइस जैसे अन्तःप्रज्ञावादी दार्शनिक 18वीं शताब्दी में पहले ही इस तरह के विचार प्रस्तुत कर चुके हैं। उनकी नैतिकता संबंधी पुस्तकों में इन विचारों का उल्लेख मिलता है जिसमें सार्थक प्रश्न संबंधी तर्क का प्रयोग कर वे प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं कि नैतिक पद शुभ, कर्तव्य उचित, आदि अपरिभाष्य है। मूर ने जिस प्रकृतिवादी दोष का उल्लेख किया है उसकी विवेचना इन दार्शनिकों ने बहुत पहले ही किया है। हचिसन के शब्दों में ईश्वर के कानून अथवा उसकी इच्छा के आधार पर शुभ तथा न्यायोचित की परिभाषा करने अर्थात इन दोनों को एक ही मान लेने से ये परिभाषाएँ महत्वहीन पुनरुक्तियां मात्र है।[4] रिचर्ड प्राइस कहते हैं कि ईश्वर के आदेश अथवा सुख की उत्पत्ति के आधार पर इन पदों की परिभाषा नहीं कर सकते। अर्थात हम यह नहीं कह सकते कि उचित का अर्थ केवल ईश्वर का आदेश मानना और अनुचित का आदेश केवल ईश्वर आदेश का उल्लंघन करना है। उचित का अर्थ केवल सुख की उत्पत्ति तथा अनुचित का अर्थ केवल दुःख की उत्पत्ति है। यदि हम ऐसा कहते हैं तो हमारे ये कथन निरर्थक पुनरुक्ति मात्र हैं । शैफ्ट्सबरी भी मानते हैं कि यदि 'उचित' या 'अनुचित' का अर्थ ईश्वर की इच्छा, आज्ञा अथवा उसके विधि के अधिक और कुछ नहीं है तो ये शब्द महत्वहीन हो जाते हैं। इस तरह के विचार पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर से पहले ही इन दार्शनिकों के विचारों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर से पहले ही इन दार्शनिकों ने शुभ जैसे नैतिक प्रत्ययों को अपरिभाष्य घोषित कर दिया था। साथ ही निर्नैतिक पदों

के आधार पर नैतिक पदों की परिभाषा करने वाले मतों में प्रकृतिवाद का दोष दिखाई पड़ा। उन्होंने हॉब्स के प्रकृतिवादी सिद्धांत का खंडन इसी आधार पर किया था। इन्हीं दार्शनिकों की तरह मूर भी स्पेन्सर, बेंथम और मिल के नैतिक विचारों में दोष दिखाते हैं। मूर ने शुभ को सरल, गुण वाचक और परिभाष्य बताने के साथ–साथ निर्प्राकृतिक भी माना है। यहां मैं मूर के निर्प्रकृतिवाद के विश्लेषण से पहले 'निर्प्राकृतिक' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करना चाहूंगा क्योंकि निर्प्राकृतिक शब्द के अर्थ की स्पष्टता का ज्ञान होना निर्प्रकृतिवाद के विवेचन के लिए आवश्यक है।

मूर का निर्प्रकृतिवाद

निर्प्रकृतिवाद एक संज्ञानवादी अधिनैतिक सिद्धान्त है। यदि हम 'निर्प्रकृतिक शब्द का अर्थ समझें तो इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण बहुत ही सरल हो जाएगा। निर्प्रकृतिवाद दो शब्दों से बना है, 'निर' और 'प्राकृतिक'। 'निर' का अर्थ है नहीं और प्राकृतिक का अर्थ प्रकृति से संबंधित कोई भी तथ्य या प्रकृति से संबंधित कोई भी विषय। अतः निर्प्राकृतिक शब्द का अर्थ है वह जो प्राकृतिक ना हो। अब यहां यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि निर्प्रकृतिवाद प्रकृतिवाद का विरोधी सिद्धांत है। यह सिद्धांत प्रकृतिवाद की कमियों को दूर करने के लिए एवं प्रकृतिवाद के विरोध में विकसित हुआ। परंतु प्रकृतिवाद एवं निर्प्रकृतिवाद दोनों सिद्धांत संज्ञानवादी सिद्धांत हैं। इसलिए ऐसा नहीं है कि निर्प्रकृतिवाद और प्रकृतिवाद पूर्णतः विरोधी सिद्धांत हैं। दो सिद्धांतों में पर्याप्त समानताएं भी हैं। इसलिए निर्प्रकृतिवाद की स्पष्ट व्याख्या प्रकृतिवाद से समानता एवं असमानता के आधार पर करना मेरी दृष्टि में सबसे उचित तरीका है।

सर्वप्रथम दोनों ही सिद्धांत संज्ञानात्मक एवं वर्णनात्मक हैं। अर्थात दोनों ही सिद्धान्त नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप का वर्णन करते हैं। यहां वर्णन शब्द का अर्थ है किसी वस्तु को उसके अंगों में विभाजित कर उसके गुणों, अवगुणों द्वारा उस वस्तु को परिभाषित या विश्लेषित कर उसका अर्थ स्पष्ट करना। इस दृष्टि से दोनों सिद्धांत समान रूप से संज्ञानात्मक या वर्णनात्मक हैं। दोनों ही सिद्धांतों के दार्शनिकों का मानना है कि वास्तव में भाषा का मुख्य रूप से कार्य वर्णन करना ही है। अर्थात भाषा द्वारा किन्ही वस्तुओं, तथ्यों, स्थितियों, संबंधों तथा गुणों का वर्णन किया जाता है। इन दार्शनिकों के इन विचारों पर शब्द के अर्थ संबंधी भाषा के निर्देशात्मक सिद्धांत का प्रभाव है जिसके अनुसार प्रत्येक शब्द हमें अनिवार्यतः किसी वस्तु, तथ्य, स्थिति या संबंध का बोध कराता है। दोनों सिद्धांतों में समानताओं के आधार पर भी भाषा संबंधी यह निर्देशानात्मक सिद्धांत ही है।

नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप और प्रमाणीकरण के संबंध में प्रकृतिवाद एवं निर्प्रकृतिवाद समानतायें मूल रूप से इतनी है परंतु जब हम इन सिद्धांतों की असमानताओं की चर्चा करेंगे तब यह स्पष्ट हो जाएगा कि क्यों निर्प्रकृतिवाद, प्रकृतिवाद के विरोध में विकसित हुआ या किन कारणों से यह निर्प्रकृतिवाद है। सिद्धांतों में भिन्नता यह है कि निर्प्रकृतिवाद प्रकृतिवाद के इस मत का खंडन करता है कि किसी नैतिक शब्द की परिभाषा किसी निर्नैतिक या प्राकृतिक शब्दों द्वारा की जा सकती है। प्रकृतिवाद यह मानता है कि नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप और प्रमाणीकरण का आधार प्राकृतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, जैविक तथा तथ्यात्मक निर्णय होते हैं। अर्थात जिस प्रकार हम प्राकृतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं उसी प्रकार हम नैतिक निर्णयों की भी व्याख्या कर सकते है। इन दोनों निर्णयों में कोई भेद नहीं है। निर्प्रकृतिवाद प्रकृतिवाद कि इसी मान्यता का खंडन करता है जबकि निर्प्रकृतिवाद की मान्यता प्रकृतिवाद से विपरीत है। इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णयों शुभ,

उचित, कर्तव्य आदि नैतिक शब्द गुण बोधक होते हैं। नैतिक पद अनन्य और अपरिभाष्य होते हैं। इसी कारण नैतिक निर्णयों का, जिनमें इन पदों का प्रयोग होता है, उन्हें किसी अन्य निर्णय जैसे प्राकृतिक, मनोवैज्ञानिक, जैविक, तथ्यात्मक, किसी भी प्रकार के निर्णय में अपचयित करना सम्भव नहीं होता। यदि 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' जैसे नैतिक पदों की परिभाषा 'सुख', 'इच्छा', 'रुचि', 'विकास' आदि निर्नैतिक तथ्यात्मक शब्दों के आधार पर की जाती है तो यह एक बड़ी भूल होगी और इसी भूल से एक गंभीर दोष की उत्पत्ति होती है जिसे मूर ने 'प्रकृतिवादी दोष' कहा। प्रकृतिवादी दोष की विषद व्याख्या इस अध्याय के अगले खंड में किया जाएगा।

निर्प्रकृतिवाद नैतिक शब्दों को अनन्य और अपरिभाष्य मानने के कारण विशिष्ट बन जाता है साथ ही निर्प्रकृतिवाद नीतिशास्त्र को अन्य विषयों से स्वतंत्र मानता है। अर्थात नीतिशास्त्र के निर्णयों को किसी अन्य विषय के कथनों द्वारा कभी स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। जबकि प्रकृतिवादी यह मानते हैं कि नीतिशास्त्र का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है यह किसी प्रकृतिक या सामाजिक विज्ञान की एक शाखा नीतिशास्त्र अपने अस्तित्व के लिए अन्य विज्ञानों पर निर्भर है।

प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद की तीसरा एवं सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि दोनों सिद्धांत नैतिक निर्णयों को गुणों बोधक मानते हुए भी अन्य दृष्टि से भिन्न हैं। जहां प्रकृतिवाद नैतिक पदों को प्राकृतिक गुणों का बोध कराने वाले शब्द मानता है वहीं निर्प्रकृतिवाद नैतिक पदों को निर्प्राकृतिक गुणों के बोध कराने वाले शब्द मानता है। यहां 'प्राकृतिक गुण' का अर्थ है वे गुण जिनका ज्ञान हमें इंद्रिय अनुभव अथवा अन्तःनिरीक्षण द्वारा प्राप्त होता है। निर्प्रकृतिवादियों की मान्यता है कि नैतिक शब्द शुभ, उचित, कर्तव्य आदि शब्द हमें निर्प्राकृतिक गुणों का बोध कराते हैं। निर्प्राकृतिक गुणों से अभिप्राय उन गुणों से हैं जो प्राकृतिक गुणों से अलग हैं जिन्हें हम अनुभव अन्तःनिरीक्षण द्वारा नहीं जाना जा सकता है। निर्प्राकृतिक गुणों को लेकर सभी निर्प्रकृतिवादी दार्शनिकों का मत अस्पष्ट है। किसी भी निर्प्रकृतिवादी दार्शनिक ने इन गुणों के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है। निर्प्राकृतिक गुणों के ज्ञान के लिए दार्शनिकों ने मनुष्य के अंदर एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति की कल्पना की है जिसे अंतःप्रज्ञा नाम दिया गया है। अंतःप्रज्ञा इंद्रिय नहीं है, यह प्रत्येक मनुष्य के अंदर विद्यमान एक भिन्न प्रकार की मानसिक शक्ति है। मानसिक शक्ति इन प्राकृतिक गुणों को ग्रहण करती है या इन गुणों का साक्षात ज्ञान प्राप्त करती है। अंतःप्रज्ञा हमारे कर्मों के उचित या अनुचित होने का निर्णय करती है। अर्थात यह हमें बताती है कि कौन सा कर्म नैतिक दृष्टि से उचित है कौन सा कर्म नैतिक दृष्टि से अनुचित है तथा हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह उत्तर देती है कि क्यों हमें किसी की मदद करनी चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर अंतःप्रज्ञा देती है कि हमें मदद करनी चाहिए क्योंकि किसी की मदद करना नैतिक दृष्टि से उचित कर्म है। अंतःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त निर्णय स्वतः सिद्ध होते हैं क्योंकि यह किसी अन्य प्रमाण जैसे, अनुमान, प्रत्यक्ष आदि पर निर्भर नहीं करता है। यह अनुभवात्मक ज्ञान से भिन्न ज्ञान है। यह स्वतःसिद्ध, साक्षात नैतिक ज्ञान है। इसी कारण अंतःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त ज्ञान कभी संदिग्ध या मिथ्या नहीं होती। अंतःप्रज्ञा सदैव निश्चित असंदिग्ध ज्ञान देती है। इसी कारण अंतःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त ज्ञान की तुलना गणित एवं तर्क शास्त्र के ज्ञान से की जाती है क्योंकि गणित एवं तर्क शास्त्र के निर्णय भी निश्चित या असंदिग्ध एवं स्वतः–सिद्ध होते हैं। साथ ही निर्प्रकृतिवादियों का यह दावा भी है की अंतःप्रज्ञा हमें वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त कराती है जो किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं बल्कि सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से मान्य है। इसका कारण यह है कि

यह व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान नहीं है यह ज्ञान किसी एक विशेष व्यक्ति या विशेष वर्ग तक सीमित नहीं है। यह केवल उनकी भावनाओं पर आधारित नहीं है। इस ज्ञान का एकमात्र आधार अंतःप्रज्ञा है और यह अन्तःप्रज्ञा सभी मनुष्यों में अनिवार्यतः किसी न किसी रूप में अवश्य ही मौजूद है जो हमें वस्तुनिष्ठ, स्वतः सिद्ध, साक्षात, ज्ञान प्रदान करती है। हमें आचरण के मूल सिद्धान्त का ज्ञान देती है। अन्तःप्रज्ञा इस सिद्धांत का आधार स्तंभ है। इस पर इतना जोर देने के कारण या विशेष महत्व देने के कारण निर्प्रकृतिवाद को अंतःप्रज्ञावाद भी कहा जाता है।

"The Intuitional view of Ethics consists in the supposition that certain rules, stating that certain actions are always to be done or to be omitted, may be taken as self-evident premises. I have shewn with regard to judgments of what is good in itself, that this is the case; no reason can be given for them. But it is the essence of Intuitionism to suppose that rules of action—statements not of what ought to be, but of what we ought to do—are in the same sense intuitively certain. Plausibility has been lent to this view by the fact that we do undoubtedly make immediate judgments that certain actions are obligatory or wrong: we are thus often intuitively certain of our duty"[5]

यहां एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि प्रकृतिवाद के अंतर्गत वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद के सिद्धांत हैं। ये सिद्धांत एक दूसरे से इस संदर्भ में भिन्न कैसे है? वास्तविकता यह है कि दोनों ही सिद्धांत वस्तुनिष्ठ होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं क्योंकि सिद्धांतों के वस्तुनिष्ठता का अर्थ भिन्न है। निर्प्रकृतिवाद यह मानता है कि किसी वस्तु के प्राकृतिक गुण ही उसे शुभ, अशुभ या उचित, अनुचित बनाते हैं जबकि निर्प्रकृतिवादियों के अनुसार वस्तुओं में निहित निर्प्राकृतिक गुण या संबंध ही उस उसे शुभ या अशुभ उचित या अनुचित बनाते हैं। प्रकृतिक गुणों का ज्ञान इंद्रियजन्य अनुभव पर और निर्प्रकृतिक गुणों का ज्ञान अन्तःप्रज्ञा पर आधारित है। अतः प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद दोनों संज्ञानवादी या वर्णनात्मक अधिनैतिक सिद्धांत होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं।

यहां हम एक उदाहरण द्वारा निर्प्रकृतिवाद को भली–भांति समझने का प्रयास कर सकते हैं। हमारे ज्ञान के स्रोत हमारी इंद्रियां हैं जिनके माध्यम से हम अनुभावात्मक वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त करते हैं, जैसे, नेत्र द्वारा लाल गुलाब का प्रत्यक्ष कर हमें ज्ञान हो जाता है कि यह लाल है, पक्षी की मधुर आवाज सुनकर अनुमान हो जाता है कि कोयल की आवाज है, उसी प्रकार किसी गरीब, असहाय को देखकर हमारी विशेष मानसिक शक्ति अंतःप्रज्ञा द्वारा जान लेती है कि हमें उसकी मदद करनी चाहिए, किसी निर्दोश की हत्या की सूचना पाकर ही हत्या करने वाले की निंदा करते हैं। अर्थात हमारी अन्तःप्रज्ञा हमें उचित जैसे मदद करना और अनुचित, जैसे, हत्या करना और शुभ और अशुभ का साक्षात एवं वस्तुनिष्ठ नैतिक ज्ञान देती है। इंद्रियां (नेत्र, कान) लाल गुलाब, कोयल की मधुर आवाज का साक्षात वस्तुनिष्ठ ज्ञान देती है। प्रथम उदाहरण में लाल गुलाब की लालिमा, कोयल की मधुरता अपने में निर्प्राकृतिक गुण हैं। दूसरे उदाहरण में मदद करने वाले के कर्म का उचित और हत्या करने वाले के निंदनीय कर्म को अनुचित कहने में एक उन कर्मों में विशेष प्रकार का गुण विद्यमान है। लालिमा के निर्प्राकृतिक गुणो का ज्ञान हमें अन्तःप्रज्ञा द्वारा होता है। इस तरह अंतःप्रज्ञात्मक साक्षात, वस्तुनिष्ठ, नैतिक ज्ञान प्रत्यक्ष वस्तुनिष्ठ ज्ञान की तरह ही है, दोनों का ज्ञान हमें तत्क्षण होता है।

निष्कर्ष

मूर ने शुभ को सरल, अविश्लेश्य, अपरिभाष्य के साथ ही निर्प्राकृतिक भी माना है। मूर की

दृष्टि में निर्प्राकृतिक का अर्थ है जो प्राकृतिक नहीं है। अर्थात जो प्राकृतिक गुणों से अलग स्वरुप का है। मूर का मानना है कि वैसे गुण या पदार्थ प्राकृतिक हैं जिनका कालान्तर्गत अस्तित्व होता है, या हो चुका है, या किसी समय में अस्तित्व होगा। प्राकृतिक गुणों का अस्तित्व वस्तु से स्वतंत्र और पृथक रहता है। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं के प्राकृतिक गुण समय के अंतर्गत वस्तुओं से अलग भी रह सकता है जबकि निर्प्राकृतिक गुणों का वस्तुओं से अलग अस्तित्व संभव नहीं है। अर्थात निर्प्राकृतिक गुणों का अस्तित्व किसी काल में उन वस्तुओं से पृथक एवं स्वतंत्र संभव नहीं हैं जिनमें हैं। इसलिए निर्प्रकृतिक गुण 'शुभ' का अस्तित्व वस्तु से स्वतंत्र किसी काल में संभव नहीं है। इसका किसी वस्तु से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। ऐसे अनेक गुण हैं जिनका किसी वस्तु से अलग अस्तित्व संभव नहीं है। वे उस वस्तु के अंश होते हैं। लेकिन शुभ ऐसा नहीं है। शुभ का ना वस्तुओं से स्वतंत्र अस्तित्व है ना ही वह वस्तुओं का अंश है। यही कारण है कि 'शुभ' एक निर्प्राकृतिक गुण है। "I do not deny that good is a property of certain natural objects: certain of them, I think, are good; and yet I have said that good itself is not a natural property. Well, my test for these too also concerns their existence in time. Can we imagine good as existing by itself in time, and not merely as a property of some natural object? For myself, I cannot so imagine it, whereas with the greater number of properties of objects—those which I call the natural properties—their existence does seem to me to be independent of the existence of those objects. They are, in fact, rather parts of which the object is made up than mere predicates which attach to it. If they were all taken away, no object would be left, not even a bare substance: for they are in themselves substantial and give to the object all the substance that it has. But this is not so with good".[6]

संदर्भ सूची

1. Moore G.E. (1903). *Principia Ethica*. Cambridge: Cambridge University press.6, 7.
2. Ibid,. 6,7.
3. Francis. H. (1726). *Enquiry concerning virtue of moral good, British Moralist,* (ed.) L. A. Bigge. Oxford: Clarendon Press. 173.
4. Francis. H. (1726). *Enquiry concerning virtue of moral good, British Moralist,* (ed.) L. A. Bigge. Oxford: Clarendon Press. 173.
5. Moore G.E., (1903). *Principia Ethica*. Cambridge. op.cit., 148,149.
6. Ibid., 41.